

लोकतंत्र का सूत्रधार

निर्वाचन आयोग : भूमिका और अधिकार

हस्तक्षेप

लोकतंत्र का व्यावहारिक पक्ष चुनावी राजनीति है। संविधान निर्माताओं ने इस महती भूमिका के लिए निर्वाचन आयोग की कल्पना की जिसे संवैधानिक दर्जा दिया गया। लोकतंत्र की वास्तविक शक्ति जनता है लेकिन लोकतांत्रिक शासन को मूर्त रूप देने की भूमिका और शक्ति निर्वाचन आयोग के पास है। इस आयोग को अपना कामकाज करते हुए साठ वर्ष पूरे हो गये हैं और यह इस अवसर पर अपनी हीरक जयंती मना रहा है। इसके मद्देनजर इस बार 25 जनवरी को 'मतदाता दिवस' घोषित किया गया है। 1993 से पहले की तुलना में आज यह तीन सदस्यीय आयोग अधिक सशक्त हुआ है। फिर भी चुनाव के दिनों को छोड़कर अब भी इसकी भूमिका हाथी के दिखने वाले दांत जैसी है। कारण यह कि इस आयोग के पास बहुत सारे कार्यकारी अधिकार नहीं हैं। इसको लेकर देश में 10-15 सालों से बहस चल रही है। इसमें यह बात उभर कर आयी है कि जब तक स्वच्छ, पारदर्शी और निष्पक्ष चुनाव कराने के लिए निर्वाचन आयोग को कार्यकारी विधायी शक्तियों तथा वैधानिक हथियारों से लैस नहीं किया जाता और 'कैंग' और न्यायपालिका की तरह अपने स्टाफ के चयन व कार्य संचालन के लिए अलग से बजट नहीं दिया जाता, आयोग जनार्थक लोकतंत्रीय भूमिका को सही ढंग से नहीं निभा सकता। सवाल यह भी है कि लोकतंत्र स्वस्थ, स्वच्छ और जन के लिए अधिक कल्याणकारी कैसे हो? इसलिए कि हमारे विधायी तंत्र पर अपराधियों का कब्जा होता जा रहा है जिनके सोच-समझ में जन का हित नहीं है ही नहीं। इन मुद्दों के मद्देनजर चुनाव सुधारों और लोकतंत्र को साफ-सुथरा व सशक्त बनाने में निर्वाचन आयोग की भूमिका की पड़ताल के साथ प्रस्तुत है हस्तक्षेप का यह अंक :



इलेस्ट्रेशन: जेपी

खींचनी ही होगी

लक्ष्मणा रेखा

मुख्य निर्वाचन आयुक्त एस.वाई. कुरैशी से डॉ. मत्स्येन्द्र प्रभाकर की बातचीत



चुनाव सुधारों का प्रश्न लम्बे अरसे से चर्चा में है। इस दिशा में सबसे पहले क्या होना चाहिए?

निश्चित ही स्वच्छ व निष्पक्ष चुनाव और स्वस्थ लोकतंत्र के लिए यह महत्वपूर्ण मुद्दा है। इसलिए आयोग ने इसे प्राथमिकता में रखा है। दरअसल, साधारण से अपराध में भी जेल में निरुद्ध होने पर एक व्यक्ति चुनाव में मतदान नहीं कर सकता। उसे आवाजाही की आजादी नहीं दी जाती। अपने परिवार के साथ रहने, अपने कार्य-व्यवस्था को आगे बढ़ाने तथा वाक और अभिव्यक्ति की आजादी जैसे बुनियादी अधिकारों से उसे वंचित रखा जाता है लेकिन संगीन अपराध में भी जेल में बंद व्यक्ति चुनाव लड़ सकता है। यह विडम्बनापूर्ण है। इस असंगति को खत्म करने

की जरूरत है। अपराधी चाहे जिस प्रकृति का हो। सभी संगीन अपराधियों के प्रति एक ही नजरिय रखने की जरूरत है कि, उसे राजनीति तथा व्यवस्था और अंततः हमारी लोकतांत्रिक प्रणाली प्रभावित हो रही है। इसलिए उन्हें चुनाव लड़ने से रोका जाना चाहिए।

क्या शासन, सत्ता से लेकर सियासत की सम्पूर्ण प्रणाली तक में विद्यमान प्रवृत्तियों के चलते ऐसा संभव है?

हां, पर इसके लिए संविधान और कानून में परिवर्तन करने होंगे। सरकार और संसद दोनों को राजनीति को अपराधीकरण से मुक्त करने के लिए फौन कदम बढ़ाना चाहिए। चुनाव आयोग ने हत्या, बलात्कार, अपहरण तथा अवैध वसूली जैसे संगीन अपराधों (जिनमें दोष साबित

होने पर पांच साल या अधिक की सजा हो सकती है) के आरोपितों को मुकदमा लम्बित रहने के दौरान चुनाव लड़ने से रोकने का पहले ही सुझाव दिया था। संसदीय समिति ने इस मुद्दे पर विचार भी किया, मगर सिफारिशों को इस बिना पर नामजूर कर दिया गया कि देश में प्रचलित न्यायविधि में सिर्फ आरोप से ही कोई अपराधी नहीं हो जाता। उसका गुनाह साबित होना जरूरी है।

लोग राजनीतिक प्रतिद्वंद्विता या अन्य कारणों से फंसाये भी तो जा सकते हैं? केवल कुछ आशंकाओं के आधार पर समूचे तंत्र को संकमित नहीं किया जा सकता। कानून या प्रावधानों के सम्भावित दुरुपयोग को रोकने के लिए संगीन जुर्य के आरोपितों के मामले में अधि की हदबंदी करके भी प्रभावी व्यवस्था की जा सकती है। चुनाव लड़ने पर रोक उन्हीं मामलों में लागू की जाये जिनमें मामले किसी सक्षम न्यायालय द्वारा उपयुक्त विचार के बाद आरोप तय किये गये हों और मामले चुनाव घोषणा के कम से कम छह महीने पहले दर्ज किये गये हों। इस तरह की अस्थायी रोक व्यापक जनहित में होगी। मुकदमा खत्म होने पर अदालत किसी आरोपित को बेकसूर पाती है तो रोक हटा ली जाये।

क्या यह व्यावहारिक रहेगा?

अभी दुविधा लग सकती है। लेकिन प्रणाली की मजबूती और उसमें भरोसा बने रहने के लिए कोई 'लक्ष्मण रेखा' तो खींचनी होगी। क्योंकि राजनीति का अपराधीकरण कहे या, अपराधियों का राजनीतिकरण, यह लोकतंत्र के प्रति जनता की आस्था को घटा रहा है।

हमारे लोकतंत्र की जड़ें इतनी कमजोर तो नहीं हैं?

मैं पूरी तरह सहमत हूँ। लोकतंत्र की जड़ें बहुत गहरी हैं। यह अतीत में कई बार साबित भी हो चुका है। पर चुनावों में मतदान के प्रति आम मतदाताओं के घटते रुझान से जाहिर होता है कि भारी संख्या में मतदाता चुनाव प्रक्रिया को बकवास मानने लगे हैं। एक बड़े वर्ग में इसे अच्छे लोगों का कार्य नहीं समझा जा रहा। यह भावना धीरे-धीरे लोकतंत्र को नुकसान पहुंचाएगी।

क्या सिर्फ सरकार यह कार्य कर सकती है?

राजनीति के अपराधीकरण को रोकने का कार्य सरकार अकेले नहीं कर सकती। यह सभी राजनीतिक दलों से जुड़ा मामला है। पर देश की नियामक तो सरकार है। पहले उसे उसे ही करनी होगी। सभी राजनीतिक दलों से विचार-विमर्श के बाद अपराधियों को चुनाव लड़ने से रोकने का प्रस्ताव संसद में आये। यहां से राजनीति के शुद्धीकरण की शुरुआत हो सकती है। यह लोकतंत्र में जनविश्वास को मजबूत करेगा।

क्या अपराधी तत्व लोकतंत्र के लिए समस्या हो गये हैं?

उनके प्रभावों के चलते ऐसा ही लगता है। यह शर्मिंदगी की बात है कि हमारी विधायिकाओं में अपराधियों की बढ़ती तादाद अंतरराष्ट्रीय मंचों पर चर्चा पाने लगी है। वर्तमान लोकसभा के 543 सदस्यों में से कम से कम 162 पर अपराधिक मामले चल रहे हैं। इनमें से 76 पर संगीन अपराध के आरोप हैं। पिछली लोकसभा में अपराधिक मुकदमों का सामना कर रहे 128 सदस्य थे। उनमें 58 पर संगीन अपराध करने के आरोप थे। यह चिंतनीय है कि लम्बित अपराधिक मुकदमों का सामना कर रहे संसदों की संख्या बढ़ रही है। बिहार की मौजूदा विधानसभा के 243 में से 141 सदस्यों पर अपराधिक मामले चल रहे हैं। इनमें भी दो-तिहाई से अधिक, यानी 85 पर कल और कल की कोशिश करने जैसे संगीन मामले हैं। बिहार की इससे पहले की विधानसभा में 117 विधायकों के खिलाफ मुकदमे लम्बित थे।

चुनावों को स्वच्छ रखने के परिप्रेक्ष्य में राजनीतिक शुचिता के लिए और क्या प्रयास किये जा सकते हैं?

मुकदमों में सजा होने के बाद सांसदों-विधायकों को तब तक सदन की सदस्यता के अयोग्य ठहराया जाना चाहिए जब तक कि वे निर्दोष करार नहीं दिये जाते। किसी वर्तमान सांसद या विधायक को मुकदमे में दोषी पाया जाये और उसे दो साल या अधिक की सजा दी जाये तो उसे सदन में बने रहने की इजाजत नहीं होनी चाहिए। मेरे विचार से उन्हें इसका विशेषाधिकार भेदभावापूर्ण है। यह भी चुनाव सुधार का मुद्दा है। यदि कोई आम आदमी दोष सिद्ध के बाद चुनाव लड़ने के अयोग्य हो जाता है तो फिर किसी मौजूदा सांसद अथवा विधायक को क्यों अयोग्य करार नहीं दिया जा सकता? उसे क्यों किसी निर्वाचन क्षेत्र का प्रतिनिधित्व करने दिया जाता है? किसी अपराधी को लाखों लोगों का प्रतिनिधित्व करने की छूट क्यों मिले?

(बाकी पेज दो पर)

कुछ बरसों में गिरी है निर्वाचन आयोग की साख



■ संजय कुमार

चुनाव विश्लेषक

निर्वाचन आयोग ने विगत वर्षों में प्रशासन की महज एक शाखा से अपने को एक सम्पूर्ण संस्था के रूप में रूपांतरित कर लिया है, चुनावी प्रक्रिया के अनुष्ठान को शक्तिसम्पन्न करते हुए। टीएन शेषन, जिन्होंने निर्वाचन आयोग सुर्विधों में ला दिया उनकी सकारात्मक भूमिका हमेशा विचारणीय रही है। मुख्य निर्वाचन आयुक्त के अपने कार्यकाल (दिसम्बर 1990-दिसम्बर 1996) के दौरान वह शायद भारतीय राजनीति के क्षितिज पर सर्वाधिक चर्चित व्यक्तित्व रहे और इस प्रकार उन्होंने परम्परागत रूप से गौण रही संस्था को संवार कर उसे एक सम्पूर्ण स्वरूप प्रदान किया। ऐसा नहीं है कि शेषन ने जब मुख्य निर्वाचन आयुक्त का दायित्व संभाला तो उनके संवैधानिक अधिकार या निर्वाचन आयोग की संरचना में शायद कोई बड़ी तब्दीली की गई थी; किंतु जिस तरह से उन्होंने 1995 में बिहार विधानसभा चुनाव का सफल प्रबंधन किया, उससे वे रातोरात सार्वजनिक शक्तिव्यवत हो गए। उस दौर में होने वाली तमाम चर्चाओं-बहसों के केंद्र में शेषन ही थे।

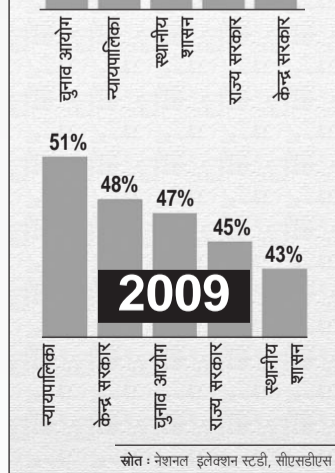
शेषन के कार्यकाल में जनता ने अन्य संवैधानिक संस्थाओं की तुलना में सबसे ज्यादा भरोसा निर्वाचन आयोग पर ही किया। न्यायपालिका दूसरे पायदान पर थी। इस बारे में सेंटर फॉर स्टडी ऑफ डेवलपिंग सोसाइटीज (सीएसडीएस) के किये सर्वेक्षण ने स्पष्टतः

पाया कि निर्वाचन आम मतदाताओं में सबसे अधिक लोकप्रिय था। लेकिन इसके साथ यह भी सच है कि आयोग में उत्पन्न विवादों के चलते उससे प्रति आम आदमी का भरोसा घटा है। सीएसडीएस के सर्वे यह भी निष्कर्ष है कि न्यायपालिका ने लोकप्रियता या विश्वसनीयता में बाजी मारते हुए निर्वाचन आयोग को दूसरे स्थान पर धकेल दिया है। आम जन में न्यायपालिका की बढ़ती लोकप्रियता का श्रेय पिछले कुछ दशकों में अनेक मसलों पर उसकी निबाही गई अति सक्रियता को जाता है। वहीं निर्वाचन आयोग के गत कुछ सालों से छाये रहे विवादों के चलते उसकी लोकप्रियता का ह्रास हुआ है।

देश में निर्वाचन आयोग 1950 में अस्तित्व में आया। सुकुमार सेन को पहला निर्वाचन आयुक्त बनाया गया, जिन्होंने आजादी बाद पहला लोकसभा चुनाव बेहद कुशलता से सम्पन्न कराया। चुनाव आयोग के लिए ढेर सारे काम थे किंतु सेन ने इसे सफलतापूर्वक

निबटया। जिस तरह से आयोग ने पहला चुनाव सम्पन्न कराया उसे देखते हुए इतिहासकार रामचंद्र गुहा ने सही कहा है, 'प्रभूत विश्वास का काम।' यहां से चलते हुए निर्वाचन आयोग 1989 तक एकल सदस्यीय ही रहा। पहली बार अक्टूबर 1989 में सरकार ने एकल आयुक्त वाले निर्वाचन आयोग को बहुसदस्यीय बनाते हुए दो अन्य निर्वाचन आयुक्तों की नियुक्ति की। निर्वाचन आयोग का दायित्व लोकसभा और विधानसभाओं का चुनाव करना है। इसके लिए आयोग को संविधान के विभिन्न अनुच्छेदों 324-329 के अंतर्गत अधिकार सम्पन्न और स्वायत्त बनाया गया है। निर्वाचन आयोग को

जनता के भरोसे क्रम से संस्थाएं



स्रोत : नेशनल डेवेलपिंग स्टडी, सीएसडीएस

कुशलतापूर्वक चुनाव कराने का अधिकार है लेकिन निर्वाचन सम्बन्धी कानून बनाने का अधिकार संसद को है। संसद की अनुपस्थिति की स्थिति में निर्वाचन आयोग शालिपूर्ण मतदान सुनिश्चित करने के लिए बाध्यकारी निर्देश जारी करता है। राजनीति का अपराधीकरण रोकने के लिए प्रत्याशियों से उनके आचरणों से संबंधित व्योरे को आयोग द्वारा आवश्यक बनाया जाना ऐसा ही उदाहरण है।

संविधान के मुताबिक निर्वाचन आयुक्तों की नियुक्ति का अधिकार राष्ट्रपति को है। परिस्थिति के मुताबिक आयुक्तों की तादाद बढ़ाने पर राष्ट्रपति ही फैसला ले सकते हैं/सकती हैं। कुछ वर्षों से आयुक्तों की हैसियत संवैधानिक या न्यायिक झमले की शिकार है। विवाद का असली मुद्दा आयुक्तों की बखर्तिगी के तरीके में भेदभाव को लेकर है। निर्वाचन आयुक्तों का कहना है मुख्य निर्वाचन आयुक्त को संसद में उनके विरुद्ध महाभियोग के जरिये ही पद से हटाया जा सकता है जबकि निर्वाचन आयुक्तों को मुख्य निर्वाचन आयुक्त की सिफारिश मात्र पर ही राष्ट्रपति हटा दे सकती हैं/सकते हैं। यह मसला मुख्य

निर्वाचन आयुक्त गोपालस्वामी और तत्कालीन निर्वाचन आयुक्त नवीन चावला के बीच हुए विवाद के दौरान उभरा था।

दरअसल, गोपालस्वामी के साथ निर्वाचन आयुक्त नियुक्त किये जाने के समय से ही नवीन चावला रडार पर थे। दोनों के बीच मतभेद आयोग की साख पर सवाल के प्राथमिक कारण बन गए थे। गोपालस्वामी ने स्वतः संज्ञान

शहरी क्षेत्रों में आयोग की लोकप्रियता में आया हास



| क्षेत्र | ज्यादा भरोसा 1996 | भरोसा 2009 | एकदम नहीं 1996 | एकदम नहीं 2009 |
|---------|-------------------|------------|----------------|----------------|
| ग्रामीण | 42% | 48% | 25% | 9% |
| शहरी | 56% | 45% | 17% | 9% |

लेते हुए चावला की बखर्तिगी की राष्ट्रपति से सिफारिश कर एक बड़े संवैधानिक विवाद को जन्म दे दिया था। इस विवाद ने संविधान के अनुच्छेद 324-325 की सहस्र व्याख्याओं का पिटारा खोल दिया। सर्वेक्षण ने खुलासा किया कि जनता निर्वाचन आयोग को सर्वाधिक ईमानदार संस्था मानती है। लेकिन गोपालस्वामी और चावला विवाद ने संस्था की साख को बड़ा लगाया।

दरअसल, गोपालस्वामी के साथ निर्वाचन आयुक्त नियुक्त किये जाने के समय से ही नवीन चावला रडार पर थे। दोनों के बीच मतभेद आयोग की साख पर सवाल के प्राथमिक कारण बन गए थे। गोपालस्वामी ने स्वतः संज्ञान लेते हुए चावला की बखर्तिगी की राष्ट्रपति से सिफारिश कर एक बड़े संवैधानिक विवाद को जन्म दे दिया था। इस विवाद ने संविधान के अनुच्छेद 324-325 की सहस्र व्याख्याओं का पिटारा खोल दिया। सर्वेक्षण ने खुलासा किया कि जनता निर्वाचन आयोग को सर्वाधिक ईमानदार संस्था मानती है। लेकिन गोपालस्वामी और चावला विवाद ने संस्था की साख को बड़ा लगाया।

शिक्षित लोगों में निर्वाचन आयोग की घटती लोकप्रियता

| शैक्षणिक स्तर | ज्यादा भरोसा 1996 | भरोसा 2009 | भरोसा नहीं 1996 | भरोसा नहीं 2009 |
|---------------|-------------------|------------|-----------------|-----------------|
| अशिक्षित | 29% | 42% | 33% | 12% |
| प्राथमिक | 45% | 45% | 23% | 9% |
| हाई स्कूल | 59% | 51% | 14% | 8% |
| कॉलेज शिक्षित | 73% | 50% | 9% | 7% |

संपन्न लोगों में निर्वाचन आयोग की घटती लोकप्रियता

| आर्थिक स्तर | ज्यादा भरोसा 1996 | भरोसा 2009 | भरोसा नहीं 1996 | भरोसा नहीं 2009 |
|-------------|-------------------|------------|-----------------|-----------------|
| उच्च वर्ग | 64% | 51% | 15% | 7% |
| मध्य वर्ग | 53% | 47% | 19% | 8% |
| निम्न वर्ग | 42% | 48% | 24% | 10% |
| गरीब | 33% | 43% | 29% | 10% |